एवं पाप के छेदन के लिए प्रायश्चित किया जाता है।[1] क्रोध आदि स्वकीय भावों के क्षय एवं उपशम आदि की भावना करना तथा निजगुणों का चिंतन करना भी निश्चय से प्रायश्चित तप है–

कोहादि सगब्भाव-क्खयपहुदि-भावणाए णिग्गहणं।
पायच्छित्तं भणिदं, णियगुणचिंता य णिच्छयदो।।[2]

जिसका अन्तर्मानस सरल हो, जो पापभीरू हो, जिसके हृदय में आत्मशुद्धि की तीव्र भावना हो, उसी के मन में प्रायश्चित लेने की भावना जाग्रत होती है। निर्ग्रन्थ प्रवचन में कहा भी है कि प्रमाद के कारण लगे दोषों का निवारण करना अथवा पाप रूप मर्यादा का छेदन करना प्रायश्चित है।[3]

नव-दश भेद

तत्वार्थसूत्र[4] में प्रायश्चित के नौ प्रकार बतलाए गए हैं, पर अन्य जैन आगमों में प्रायश्चित के निम्न दस भेदों का उल्लेख है[5]–1. आलोचनार्ह, 2. प्रतिक्रमणार्ह, 3. तदुभयार्ह, 4. विवेकार्ह, 5. व्युत्सर्गार्ह, 6. तपार्ह, 7. छेदार्ह, 8. मूलार्ह, 9. अनवस्थाप्यार्ह, 10. पारांचिकार्ह।

पहले नौ भेद तत्त्वार्थसूत्र में ज्यों के त्यों हैं, केवल दशवां भेद पारांचिकार्ह यहाँ नया है।

आलोचना

अपना दोष सरल हृदय से गुरुजनों के समक्ष प्रकट कर देना आलोचना है।[6] भगवतीसूत्र आदि आगमों में स्पष्ट निर्देश है कि कृत पापों की आलोचना जब तक नहीं की जाती, तब तक हृदय में शल्य बनी रहती है और जब तक शल्य है,[7] तब तक साधक आराधक नहीं बन सकता।

1. तत्वा०, पृ० 249
2. समण०, 458
3. नि०प्र०, पृ० 589
4. त०सू०, 9/22
5. स्था०सू०, 10/73
   तथा मिलाइए, भग०सू०, 25/7/802 समण०, 460
6. आ–अभिविधिना सकल दोषाणां, लोचना–गुरु,ुतः प्रकाशना आलोचना। भग० टीका, 25/7
7. भग०सू०, 10/2

जैनागमों[1] में यह भी कहा गया है कि आलोचना वही व्यक्ति कर सकता है, जो जाति सम्पन्न, कुल सम्पन्न, विनय सम्पन्न, ज्ञान सम्पन्न, दर्शन सम्पन्न, चारित्र सम्पन्न, शान्त, दान्त, अमायी, अपश्चतापी–इन दस गुणों से युक्त हो।

प्रतिक्रमणार्ह

आहार में, विहार में, प्रतिलेखना में, हिलने-चलने में या इसी प्रकार की किसी अन्य क्रिया में जो अज्ञात दोष लग गया हो, उकसे लिए पश्चाताप करना प्रतिक्रमण है।

तदुभयार्ह

द्वितीय प्रायश्चित में कहे हुए कार्य करते समय यदि जानबूझकर दोष लगा हो, तो उसे गुरु आदि के समक्ष कहना अर्थात् जिस दोष की आलोचना एवं प्रतिक्रमण दोनों करने से शुद्धि होती है, वह तदुभयार्ह है।

विवेकार्ह

अशुद्ध, अकल्पनीय और तीन प्रहर से अधिक रहा हुआ आहार फेंक देने से दोषशुद्धि हो जाती है, यह विवेक प्रायश्चित है।

व्युत्सर्गार्ह

नदी आदि को पार करने में तथा मार्ग आदि में चलने से असावधानी के कारण यदि कोई दोष लग गया हो, तो कार्योत्सर्ग कर उस दोष की विशुद्धि हो जाती है।

तपार्ह

पृथ्वीकाय आदि सचित्त के स्पर्श से उत्पन्न हुए पाप को आयम्बिल, उपवास आदि तप द्वारा निवारण करना तपार्ह है।

छेदार्ह

उपवास मार्ग का सेवन करने से तथा कारणवश जानबूझ कर दोष लगने-लगाने पर पाले हुए संयम में से कुछ दिनों या महीनों को कम कर देना छेदार्ह है।

मूलार्ह

छद्मस्तेथ श्रमण कभी-कभी गुरुतर दोष का सेवन कर लेता है, जिससे उसका

1. भग०सू० 25/7
   तथा दे०–स्था०सू०, 10/73

चरित्र नष्ट हो जाता है। ऐसे दोषों की शुद्धि की आलोचना, तप या छेद से नहीं हो सकीत, उकसे लिए उसमें पुनः महाव्रत आरोपित किए जाते हैं। दीक्षा पर्याय का पूर्ण छेदन कर नई दीक्षा दी जाती है। महाव्रत मूल है, अतः इस प्रायश्चित को मूलार्ह कहते हैं।

अनवस्थापयार्ह

क्रुरता के वश होकर अपने या दूसरे के शरीर पर लाठी का प्रहार करने, घूंसा मारने आदि कुत्सिह क्रियाओं के कारण सम्प्रदाय से पृथक् करके दुष्कर तप करना और पुनः नई दीक्षा दिलवाना अनवस्थाप्यार्ह है।

पारांचिकार्ह

जो साधु शास्त्र के वचनों की उत्थापना करे, शास्त्र विरुद्ध प्ररूपणा करे, साध्वी का शील भंग करे, उसका वेश परिवर्तन कर जघन्य 6 मास तथा उत्कृष्ट बारह वर्ष तक सम्प्रदाय से बाहर रखकर, अनवस्थित प्रायश्चित में कहे अनुसार घोर तप करवाकर, ग्राम-ग्राम घुमाकर फिर नई दीक्षा देना पारांचिकार्ह है। इसी को बौद्धधर्म पाराजिक पातिमोक्ख बतलाया गया है।

इस प्रकार प्रायश्चित से यह जीव पापकर्मों की विशुद्धि कर निरतिचारी व्रती बन जाता है।

2. विनय तप

आभ्यन्तर तप में विनय को द्वितीय स्थान दिया गया है। विनय का अर्थ है-नमना, झुक जाना। उत्तराध्ययनसूत्र के प्रथम अध्याय का नाम ही विणयसुयं है।[1] दशवैकालिकसूत्र में विनय को जिनशासन का मूल कहा है।[2] वि अर्थात् विशेष रूप से अष्ट कर्मों का दूर हो जाना, नष्ट हो जाना ही विनय बतलाया गया है। प्रकारान्तर से चार गति का अन्त करने वाले मोक्ष की उपलब्धि जिससे होती है, उसे सर्वज्ञदेव ने विनय कहा है।

---

1. उत्तरा०सू०, 1/1
2. धम्मस्स विणओ मूलं।।

दशवै०सू०, 9/2/2

गुरुजनों की आज्ञा का पालन करना, गुरुओं के समीप बैठने वाला, उनके कार्य को करने तथा उनके इंगित आकार को भली-भांति जानना विनय है और उसे अपनाने वाला शिष्य विनयवान कहलाता है।[1] गुरुओं के आगमन पर श्रद्धा सहित खड़े हो जाना, हाथ जोड़ना, गुरुओं को आसन देना, गुरुभक्ति करते हुए शुद्धभाव से उनकी सेवा-शुश्रुषा करना विनयतप कहा गया है।[2]

सप्तधा विनय

विनयतप के सात भेद हैं। तत्त्वार्थ में विनय के चार भेद-ज्ञान, दर्शन, चारित्र व उपचार विनय बतलाए गए हैं।[3] समणसुत्तं में विनय तप के 5 भेद गिनाये गए वे हैं-1. दर्शन, 2. ज्ञान, 3. चारित्र, 4. तप एवं 5. औपचारिक विनय। वस्तुतः आगम के अनुसार विनयतप के सात भेद निम्न इस प्रकार हैं-1. ज्ञान विनय, 2. दर्शनविनय[4], 3. चारित्रविनय, 4. मनविनय, 5. वचनविनय, 6. कायविनय और 7. लोकोपचारविनय।[5]

ज्ञानविनय

ज्ञान के प्रति भक्ति, बहुमान आदि करना ज्ञानविनय है। मतिज्ञानी, श्रुतज्ञानी, अवधिज्ञानी, मनः पर्यायज्ञानी व केवलज्ञानी का तथा ज्ञान के उपकरणों का विनय करना ज्ञानविय है। दशवैकालिकसूत्र में आता है कि जिस गुरुजन से एक भी पद सीखें, उसका विनय और सत्कार करना चाहिए-जस्संतिए धम्मपयाइं सिक्खे तस्संतिए वेणइयं पउंजे।[6]

दर्शनविनय

सम्यक्दृष्टि पुरुष का यथायोग्य विनय करना, शुश्रुषा करना दर्शनविनय है। अरिहन्त, अरिहन्त प्ररूपित धर्म, आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, कुल, गण, संघ,

---

1. उत्तरा०सू०, 1/2
2. वही, 30/32
3. त०सू०, 9/23
4. समण०, 464
5. स्था०सू०, 7/130
   तथा दे०-भग०सू०, 25/7/802
   औप०सू०, 30
6. दशवै०सू०, 9/1/12

क्रियावन्त, सम आचार वाले सन्त और पांच ज्ञान के धारक–इन पन्द्रह महासत्त्वों की आशातना न करना उनका बहुमान करना और उनकी स्तुति करना दर्शनविनय है।

चरिभविनय

चारित्रनिष्ठ महात्माओं का विनय करना उनकी यथोचित् सेवा-भक्ति करना चारित्र विनय है। चारित्र पांच प्रकार का बतलाया गया है–सामायिक चारित्र, छेदोपस्थान चारित्र, परिहारविशुद्धि चारित्र, सूक्ष्मसम्पराय चारित्र और यथाख्यात चारित्र।

मनविनय

अशुभ, कर्कश, कठोर, छेदक, भेदक, परितापकर विचारों से मन को हटाकर प्रशस्त, कोमल, दयायुक्त, वैराग्यमय विचार करना मनविनय है।

वचनविनय

मनविनय की भांति वचनविनय में कठोर, कर्कश, छेदन-भेदन वचन का प्रयोग न करके हित-मित प्रिय एवं मधुर वचन बोलना वचनविनय है।

कायविनय

शरीर को अप्रशस्त क्रिया में प्रयुक्त न कर प्रशस्त क्रिया में प्रयुक्त करना कायविनय है।

लोक उपचारविनय

जो अपने से सद्गुणों में श्रेष्ठ हों, उनके प्रति अनेक प्रकार से योग्य व्यवहार करना, जैसे–उनके सम्मुख जाना, उनके आने पर खड़े होना, आसन देना, वन्दना करना आदि लोकउपचार विनय हैं।[1] इसी को लोक व्यवहार भी कह सकते हैं।

3. वैयावृत्त्य तप

सेवाभाव को वैयावृत्य कहते हैं। वस्तुतः स्थविर मुनियों की यथोचित सेवा वैयावृत्य कहलाती है।[2] आचार्य आदि मुनियों के कायिक क्लेश और मानसिक संक्लेशों को दूर करने में प्रवृत्त होना वैयावृत्यतप है। शय्या, वसति, आसन, प्रतिलेखन

1. त०सू०, पृ० 220
2. आयरियमाईय, वेयावच्चम्मि दसविहे।
   आसेवनं जहाथामं, वेयावच्चं तमाहिय।।
   उत्तरा०सू०, 30/33

से उपकृत साधुजनों की आहार, औषधि, वाचना, वन्दना आदि से सेवा-शुश्रुषा करना भी वैयावृत्यतप कहा गया है।[1]

ज्ञाताधर्मकथांगसूत्र,[2] उत्तराध्ययनसूत्र[3] एवं तत्त्वार्थसूत्र[4] में तीर्थंकर नामगोत्र बांधने के कारणों में सेवाभाव प्रमुख है।

दशधा वैयावृत्य

वैयावृत्य तप के दस भेद बतलाये गए हैं–

आचार्य की वैयावृत्य

जो स्वयं आचार का पालन करते हैं और दूसरों से करवाते हैं, ऐसे आचार्य की वैयावृत्य करनी चाहिए।

उपाध्याय की वैयावृत्य

जो आत्म कल्याण के लिए शास्त्रों का अध्ययन करवाते हैं, ऐसे उपाध्याय की वैयावृत्य करना भी तप है।

तपस्वी की वैयावृत्य

जो महोपवास आदि तपों को करते हैं, ऐसे तपस्वी की सेवा करना वैयावृत्य है।

शैक्ष

जो नवदीक्षित मुनि शास्त्रों के अध्ययन में तत्पर रहते हैं, ऐसे शैक्ष मुनि की सेवा शैक्षा वैयावृत्य है।

---

1. सेज्जोगासणिसेज्जो, तहोवहिपडिलेहणाहि उवग्गहिदे।
   आहारोसहवायण-विकिंचणं वंदणादीहिं।।
   समण०, 473
2. ज्ञाता०सू०, 8/14
3. वेयावच्चेणं तित्थियरनाम गोयं कम्मं निबंधेइ।।
   उत्तरा०सू०, 29/44
4. त०सू०, 9/23

ग्लान की वैयावृत्य

जिस मुनि का शरीर रोग आदि से पीड़ित हो, उसे ग्लान कहते हैं, ऐसे ग्लान की सेवा करना वैयावृत्य है।

गण की वैयावृत्य

वृद्ध मुनियों के समूह को गण कहते हैं, उनकी वैयावृत्य करना तप है।

कुल की वैयावृत्य

एक ही दीक्षाचार्य का शिष्य परिवार कुल कहलाता है, ऐसे कुल की वैयावृत्य करनी चाहिए।

संघ की वैयावृत्य

साधु-साध्वी और श्रावक-श्राविका रूपी समुदाय जो कि एक ही धर्म का अनुयायी है, संघ कहलाता है। ऐसे संघ की सेवा करना तप है।

साधु की वैयावृत्य

जो वास्तव में साधु है, ऐसे साधु की वैयावृत्य करनी चाहिए।

समनोज्ञ

वक्तृत्व आदि गुणों से सुशोभित एवं लोकों द्वारा प्रशंसित मुनि समनोज्ञ कहलाता है, ऐसे मुनि की वैयावृत्य करना तप है।

4. स्वाध्यायतप

स्वाध्याय का अर्थ है-विधिपूर्वक सत् शास्त्रों का अध्ययन। विधिपूर्वक आत्मकल्याणकारी उपादेय शास्त्रों का अध्ययन स्वाध्यायतप है। ज्ञानावरणीय आदि कर्म के क्षय अथवा मन, वचन, काय की क्रियाओं को समाप्त करने के लिए, मोक्ष की कामना करने वाले को नित्य प्रति स्वाध्याय करना चाहिए क्योंकि आत्मा के लिए हितकारक परमागम के अध्याय-अध्ययन को स्वाध्याय कहा गया है।[1]

1. नित्यं स्वाध्यायमभ्यस्येत्कर्म-निर्मूलनोद्यतः।
   स हि स्वस्मै हितोऽध्यायः सम्यगध्ययनं श्रुते।।
   धर्मा०, 7/82

इस प्रकार आत्मज्ञान विषयक अध्ययन स्वाध्याय कहलाता है।

पञ्चधा स्वाध्याय

स्वाध्याय के पांच भेद हैं-वाचना, पृच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा।[1] तत्त्वार्थसूत्र में वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय व धर्मोपदेश ये पांच भेद किए हैं।[2] यहाँ इन्हीं का अध्ययन अभिप्रेत है-

वाचना

फल की अपेक्षा न करके शास्त्र पढ़ना, शास्त्र का अर्थ कहना और अन्य जीवों के लिए शास्त्र व अर्थ दोनों का व्याख्यान करना वाचना है।

पृच्छना

पढ़ते समय या पढ़ने के बाद शिष्य के मन में जो जिज्ञासाएँ उत्पन्न होती हैं, उन्हें आचार्य से पूछना पृच्छना है।

परिवर्तना

आचार्य से प्राप्त श्रुत को स्मृति में रखने के लिए उसकी बार-बार आवृति करना परिवर्तना है।

अनुप्रेक्षा

जाने हुए अर्थ का एकाग्र मन से पुनः-पुनः अभ्यास चिन्तन या विचार करना अनुप्रेक्षा है।

धर्मकथा

असंयम के निवारण के लिए, मिथ्यात्व को दूर करने के लिए पठित और पर्यालोचित श्रुत का उपेदश देना धर्मकथा है।

5. ध्यानतप

साधना पद्धति में ध्यान का सर्वोपरि स्थान है। उत्तम संहनन वाले जीव का

1. (क) स्था०सू०, 5/220
   (ख) उत्तरा०सू०, 30/34
2. त०सू०, 9/25

एक विषय में अन्तर्मुहूर्त के लिए अन्तःकरण की वृत्ति का रुक जाना ध्यान कहलाता है।[1] ध्यान का मुख्य लक्ष्य चित्त को किसी एक लक्ष्य पर स्थिर करना है।[2] चित्त के एकाग्रीकरण अर्थात् स्थिरता से चित्त की चंचलता नष्ट हो जाती है और इन्द्रियां विषयों की तरफ नहीं दौड़ती।

ध्यान का समय अन्तर्मुहूर्त होता है क्योंकि इससे अधिक समय तक ध्यान नहीं हो सकता।

अतः आर्त और रौद्र ध्यान को छोड़कर समाधि युक्त रहने की इच्छा रखने वाले मुनि का धर्मध्यान और शुक्लध्यान में लीन रहना ही ध्यानतप है–

अट्टरूद्धाणि वज्जिता, झाएज्जा सुसमाहिए।
धम्मसुक्काइं झाणाइं, झाणं तं बुहा वए।।[3]

जैनसिद्धांतदीपिका में कहा गया है कि एक आलंबन पर मन को स्थापित करने तथा योग (मन-वचन-काय) का निरोध करना ध्यान कहलाता है।[4] आचार्य हेमचन्द्र ने भी अभिधान-चिन्तामणि में उपर्युक्त कथन का समर्थन किया है।[5]

एकाग्र चिन्तन को ध्यान कहते हैं। इस व्युत्पत्ति के आधार पर ध्यान के चार भेद कहे गए हैं–(क) आर्त्त, (ख) रौद्र, (ग) धर्म और (घ) शुकल ध्यान, चत्वारि झाणा पण्णत्ता–अट्टे झाणे, रोद्दे झाणे, धम्मे झाणे, सुक्के झाणे।[6] ज्ञानार्णव[7] में ध्यान के अशुभ, शुभ और शुद्ध ऐसे ये तीन भेद बतलाए गए हैं, जो आर्त्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल इन चारों ध्यानों में समाविष्ट हो जाते हैं। जैनसिद्धान्तदीपिका में ध्यान के दो प्रकार माने गए हैं–धर्म्य और शुक्ल।[8]

1. उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्। आमुहूर्तात्।।
त०सू०, 9/27-28
2. अंतो मुहुतकालं चित्तस्सेगग्गया हवइ झाणं।।
आ०नि०, 1477
3. उत्तरा०सू०, 30/35
4. एकाग्रे मनःसन्निवेशनं योगनिरोधो वा ध्यानम्।।
जै०सि०, दी० 6/41
5. ध्यानं तु विषये तस्मिन्नेकप्रत्ययसंततिः।।
अ०चि०को०, 1/840
6. (क) स्था०सू०, 4/1/60, (ख) आर्तरौद्रधर्मशुक्लानि।। त०सू० 9/29
(ग) औप०सू०, 30, (ग) भग०सू०, 25/7/144
7. ज्ञाना०, 3/28
8. धर्म्यशुक्ले।। जै०सि०, दी० 6/42

उक्त चारों ध्यान को अप्रशस्त और प्रशस्त में विभक्त कर यहाँ अध्ययन करते हैं–

आर्त्त ध्यान

चेतना की अरति या वेदनामय एकाग्र परिणति को आर्त्त ध्यान कहा जाता है। यह अप्रशस्त ध्यान है। इसके निम्न चार प्रकार होते हैं–

(क) कोई पुरुष मनोज्ञ संयोग से संयुक्त होने पर उस (अमनोज्ञ विषय) के वियोग का चिन्तन करता है–यह पहला आर्त्तध्यान है।

(ख) कोई पुरुष मनोज्ञ संयोग से संयुक्त है, वह उस (मनोज्ञ विषय) के वियोग न होने का चिन्तन करता है–यह दूसरा आर्त्तध्यान है।

(ग) कोई पुरुष आंतक-सद्योद्यातो रोग के संयोग से संयुक्त होने पर उसके वियोग का चिन्तन करता है–यह तीसरा आर्त्तध्यान है।

(घ) कोई पुरुष प्रीतिकर काम-भोग के संयोग से संयुक्त है, वह उसके वियोग न होने का चिन्तन करता है–यह चौथा आर्त्तध्यान है।

आर्त्त ध्यान के लक्षण

(क) आक्रन्द करना

(ख) शोक करना

(ग) आंसू बहाना

(घ) विलाप करना, आदि आर्त्त ध्यान का स्वरूप है।

(क) रौद्र ध्यान

चेतना की क्रूरतामय एकाग्र परिणति को रौद्र ध्यान कहा जाता है। उसके चार प्रकार हैं–

(क) हिंसानुबन्धी

जिसमें हिंसा का अनुबन्ध अर्थात् हिंसा में सतत प्रवर्तन हो। वह हिंसानुबंधीरौद्रध्यान है।

(ख) मृषानुबन्धी

जिसमें मृषा का अनुबन्ध अर्थात् मृषा में सतत प्रवर्तन हो उसे मृषानुबन्धीरौद्रध्यान कहते हैं।

(ग) स्तेनानुबन्धी

जिसमें चोरी का अनुबन्ध अर्थात् चोरी में सतत प्रवर्तन हो, स्तेनानुबन्धी रौद्रध्यान कहलाता है।

(घ) संरक्षणानुबन्धी

जिसमें विषय के साधनों के संरक्षण का अनुबन्ध अर्थात् विषय के साधनों में सतत प्रवर्तन हो। वह संरक्षणानुबन्धी रौद्र ध्यान है।

रौद्र ध्यान के चार लक्षण

(क) **अनुपरत दोष**–प्राय: हिंसा आदि से उपरत न होना अनुपरत दोष है।

(ख) **बहुदोष**–हिंसा आदि की विविध प्रवृत्तियों में संलग्न रहना बहुदोष है।

(ग) **अज्ञानदोष**–अज्ञानवश हिंसा आदि में प्रवृत्ति होना अज्ञानदोष मात्र है।

(घ) **आमरणान्तदोष**–मरणान्त तक हिंसा आदि करने का अनुताप न होना आमरणान्तदोष कहा है।

ये दोनों ध्यान पापाश्रव के हेतू हैं, इसलिए इन्हें अप्रशस्त ध्यान कहा जाता है। किन्तु मोक्ष के हेतुभूत ध्यान दो ही हैं और वे इस प्रकार हैं–1. धर्म तथा 2. शुक्ल ध्यान। इनमें आश्रव का निरोध होता है, इसलिए इन्हें प्रशस्त ध्यान कहा जाता है।

धर्मध्यान

वस्तु धर्म एवं सत्य की गवेषणा में परिणत चेतना की एकाग्रता को धर्म ध्यान कहा जाता है। जैनसिद्धान्तदीपिका में आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थान का विचय करने के लिए जो ध्यान किया जाता है, वही धर्मध्यान है।[1] आचार्य शुभचन्द्र[2] और हेमचन्द्र[3] ने पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ, रूपातीत–धर्मध्यान के इन चार अवान्तर भेदों का वर्णन किया है। धर्मध्यान के भगवती,[4] स्थानांग[5] और औपपातिक[6] आदि में आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय, संस्थानविय–ये चार प्रकार बताए गए हैं।

1. आज्ञा-अपाय-विपाक-संस्थान-विचयाय धर्म्यम्।।
जै०सि०, दी० 6/43
2. ज्ञाना०, 37/1
3. योग०, 7/8
4. भग०सू०, 25/7
5. स्था०सू०, 4/1/65
6. औप०सू०, 30

1. आज्ञाविचय

वीतराग भगवान् की जो आज्ञा है, उनका निवृत्तिमय उपदेश है, उस पर दृढ़ आस्था रखते हुए उनके बिना उपदष्टि मार्ग पर चलना आज्ञाविचय है अथवा आगम श्रुत में प्रतिपादित तत्त्व को ध्येय बनाकर उसमें एकाग्र हो जाना आज्ञाविचय है आणाए मामग धम्मं[1]–आज्ञा में ही धर्म है।

2. अपाय विचय

अय कहते हैं सुख को और जहाँ सुख नाम मात्र भी नहीं है वह अपाय है। अपाय का अर्थ दोष या दुर्गुण भी है। उन दोषों से आत्मा किस प्रकार मुक्त हो सकता है? दोषों की विशुद्धि कैसे हो सकती है? इस विषय पर चिन्तन करना अपायविचय है। राग-द्वेष आदि दोषों के उत्पत्ति हेतु क्षयहेतु आदि को ध्येय बनाकर उसमें एकाग्र उसमें एकाग्र हो जाना ही अपायविचय है।

3. विपाकविचय

कर्म के विविध फलों को ध्येय बनाकर उसमें एकाग्र हो जाना विपाकविचय है। इस ध्यान में कर्मों के कटु परिणामों पर चिंतन होता है और उनमें वचनों का संकल्प किया जाता है।

4. संस्थानविचय

संस्थान का अर्थ आकार है। लोक के आकार पर चिंतन करते हुए मेरा आत्मा इन विविध योनियों में परिभ्रमण करके आया है, ऐसा विचार करके आत्मस्वरूप का चिन्तन करना, संस्थानविचय धर्मध्यान है।

शुक्लध्यान

जिस ध्यान में आत्मा को कर्मरूपी मल के नष्ट हो जाने से शुचिता अर्थात् शुक्लता प्राप्त हो जाती है, वह शुक्लध्यान कहलाता है।[2] जिस प्रकार मैल हट जाने से वस्त्र में शुचिता आ जाती है, उसी प्रकार आत्मा निर्मल परिणाम भी कर्ममल हट जाने से या नष्ट हो जाने से शुचिता प्राप्त कर शुक्ल कहलाने लगता है।[3]

1. आ०सू०, 6/2/185
2. शुचि योगाच्छुक्लम्।। सर्वार्थ०, 9//8
3. यथा मलद्रव्यापगमात् शुचिगुणयोगाच्छुक्लं वस्त्रं तथा तदगुण साधर्म्यात् आत्मपरिणामस्वरूपमपि शुक्लमिति निरूच्यते।।
त०वा०, 9/28/4

अत: कषाय रूपी मैल के उपशम हो जाने से, या नष्ट हो जाने से आत्मा में जो निर्मल परिणाम होता है, उसकी शुचिता के कारण इस ध्यान को शुक्लध्यान कहा गया है।[1]

शुक्ल ध्यान उत्तरोत्तर विकासक्रम के आधार पर चार भेद वाला है–पृथक्त्व वितर्क सविचारी, एकत्ववितर्क अविचारी, सूक्ष्यक्रिया अनिवृत्ति और समुच्छिन्नक्रिय अप्रतिपाति।[2]

पृथक्त्ववितर्क सविचारी

यह ध्यान विचार होता है। इसमें 'विचार' का अर्थ है–अर्थ, शब्द और योगों में संक्रमण का होना। अर्थात् शब्द से अर्थ में, अर्थ से शब्द में, शब्द से शब्द में, अर्थ से अर्थ में तथा एक योग से दूसरे योग में संक्रमण न होना। इस तरह यह ध्यान पूर्वश्रुत का आलम्बन लेकर एक द्रव्य विषयक अनेकों पर्यायों का विस्तार के साथ, किन्तु पृथक्-पृथक् रूप में द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक नयों से चिन्तन करने से होता है। यह चिन्तन भेद प्रधान होता है।

एकत्ववितर्क अविचारी

जब भेद प्रधान चिन्तन करते हुए मन स्थिर हो जाता है, तो उसके पश्चात् जो अभेद प्रधान चिन्तन किया जाता है, वह एकत्ववितर्क अविचार ध्यान होता है। जैसे–एक द्रव्य या उसकी एक पर्याय पर चिन्तन करना।

सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाती

जब अन्तत: सूक्ष्मशरीर योग का आश्रय लेकर केवली शेष योगों को रोक देते

1. (क) निष्क्रियं करुणातीतं ध्यान धारणा विवर्जितम्।
   अन्तर्मुखं च यच्चित्तं तच्छुक्लमिति पठ्यते।।
   शुचिगुणयोगाच्छुक्लं कषायरजसः क्षयादुपशमाद्धा।
   वैडूर्यमणिशिखा इव सुनिर्मलं सुप्रकम्पं च।।
   ज्ञाना०, 39/41-42
   (ख) कार्ति० 483
2. सुक्के झाणे चउव्विहे च उप्पडोआरे पण्णत्ते, तंजहा-पुहत्तवितक्के सवियारी।
   एगत्तवितक्के अवियारी, सुहुमकिरिए अणियट्टी, समुच्छिन्ने किरिए अप्पडिवाती।।
   स्था०सू०, 4/69
   (ख) भग०सू०, 25/7/148 (ग) त०सू०, 9/41

हैं, तब वह सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती ध्यान कहलाता है क्योंकि इसमें श्वास-उच्छ्वास के समान सूक्ष्मक्रिया ही शेष रह जाती है और इस ध्यान के आने पर पतन भी संभव नहीं है।

समुच्छिन्नक्रियानिवृत्ति

यह शुक्ल ध्यान की चतुर्थ भूमिका है। तृतीय ध्यान में श्वासोच्छ्वास की सूक्ष्म क्रिया रहती है, पर इस ध्यान में श्वासोच्छ्वास का भी निरुन्धन (निरोध) हो जाता है। आत्म प्रदेश पूर्ण रूप से निष्कम्प हो जाते हैं, अत: इसे समुच्छिन्नक्रियानिवृत्तिध्यान भी कहा जाता है। इस ध्यान में स्थूल और सूक्ष्म किसी भी प्रकार की मानसिक, वाचिक और कायिक क्रिया नहीं रहती और यह स्थिति बाद में नष्ट भी नहीं होती।[1]

6. व्युत्सर्ग तप

व्युत्सर्ग का अर्थ विशेष रूप से उत्सर्ग करना है। आचार्य अकलंक ने लिखा है–नि:संगता, अनासक्ति, निर्भयता और जीवन की लालसा के परित्याग पर ही व्युत्सर्ग का भव्य प्रासाद टिका हुआ है। आत्मसाधना के लिए अपने आपको उत्सर्ग कर देना व्युत्सर्ग है।[2] अत: सोने, बैठने और खड़े होने के समय शरीर को इधर-उधर न हिला कर व्यर्थ की चेष्टाओं का त्याग करते हुए, स्थिर रखना व्युत्सर्ग तप है। इसका दूसरा नाम कायोत्सर्ग भी है। त्याज्य वस्तु बाह्य व आभ्यन्तर के रूप में दो प्रकार की होती है।[3] इस कारण व्युत्सर्ग तप भी दो प्रकार का हो जाता है–

बाह्योपधि व्युत्सर्ग

धन, धान्य, मकान, क्षेत्र आदि बाह्य पदार्थों की ममता का त्याग करना बाह्योपधि व्युत्सर्ग है।

आभ्यन्तरोपधि व्युत्सर्ग

शरीर की ममता एवं काषायिक विकारों की तन्मयता का त्याग करना आभ्यन्तरोपधि व्युत्सर्ग है।[4]

1. (संधवी) त०सू०, 229-230
2. निसंगनिर्भयत्व जीविताशाव्युदासाद्यर्थो व्युत्सर्ग:।।
   त०वा०, 9/26
3. बाह्याभ्यन्तरोपध्यो०।। त०सू०, 9/26
4. (संधवी) त०सू०, पृ० 221

इस प्रकार तप के द्वारा बद्ध कर्मों की निर्जरा कर अक्षय ज्ञान (कैवल्य) को तथा अरिहन्तत्त्व रूप पद का लाभ होता है। अतएव तप की महत्ता भी अचिन्त्य है।

उपाकसदशांगसूत्र के अन्तर्गत प्रथम अध्ययन में बताया गया है कि श्रावक आनन्द का शरीर कष्टकर एवं विपुल श्रम तथा तप के ग्रहण करने के कारण सूख गया और नसें दिखाई देने लगीं।[1] तब उसके मन में अन्तिम मरणान्तिक संलेखना करने का विचार उत्पन्न हुआ।

यह सल्लेखना क्या है? यहाँ इसी का अध्ययन करते हैं–

(ङ) सल्लेखना

मृत्यु अपरिहार्य धर्म है, ऐसा समझकर मनुष्य का मरणान्त समय में परलोक उत्तम हो, उसे सदगति मिले, इसके लिए वह अच्छे भावों की भावना भाता है। प्रत्येक दर्शन में इसके लिए भिन्न-भिन्न पद्धतियाँ अथवा धारणाएँ स्वीकार की गई हैं।

जैनदर्शन में भी इस विषय पर गहन चिन्तन किया गया है, जिसे सल्लेखना व्रत से अधिक समझा जाता है। समाधिमरण और संथारा इसके अपर नाम हैं।

1. सल्लेखना की निरुक्ति परक व्याख्या

सल्लेखना में 'सत्' और 'लेखना'–इन दो शब्दों का संयोग है। सत् का अर्थ है–सम्यक् और लेखना का अर्थ है–कृश करना। सम्यक् प्रकार से कषाय एवं शरीर को कृश करना सल्लेखना है।[2] आचार्य पूज्यपाद बाहरी शरीर एवं भीतरी कषायों को, उन्हें पुष्ट करने वाले कारणों को उत्तरोत्तर घटाते हुए सम्यक् प्रकार से लेख अर्थात् कृश करना 'सल्लेखना' बतलाते हैं।[3]

श्रावक जब यह देखे कि यह हमारा शरीर आवश्यक संयम पालन करने में अशक्त और असमर्थ हो रहा है अथवा मृत्यु का समय सन्निकट आ गया है, तो सर्वप्रथम उसे संयम को अंगीकार कर सल्लेखना धारण करनी चाहिए।

उपासकदशाङ्गसूत्र में सल्लेखना के लिए अपश्चिम मारणान्तिक सल्लेखना

1. उपा०सू०, 1/69
2. संलिख्यते०नया शरीरकषायादि इति सल्लेखना।
   स्था०सू०टी० 2/2/76, पृ० 53
3. कायस्य बाह्यस्याभ्यन्तराणां च कषायाणां तत्कारणहापनक्रमेण सम्यक्लेखना संल्लेखना।
   सर्वार्थ०, पृ० 273

शब्द प्रयुक्त हुआ है।[1] तत्त्वार्थसूत्र में 'मारणान्तिकी संलेखनां जोषिता'[2] कहकर साधक को मृत्यु काल समीप आने पर प्रीतिपूर्वक सल्लेखना धारण करने की प्रेरणा दी गयी है। रत्नकरण्डश्रावकाचार में उपसर्ग, अकाल, बुढ़ापा अथवा असाध्य रोग आदि होने पर धर्म पालन हेतु कषायों को कृश करते हुए शरीरत्याग का नाम सल्लेखना बतलाया गया है।[3]

चारित्रसारकार आचार्य कुन्दकुन्द के मत में बाहरी शरीर का और भीतरी कषायों का क्रमशः उनके कारणों को घटाते हुए सम्यक् प्रकार से क्षीण करना ही सल्लेखना है।[4] जबकि आचार्य वसुनन्दि कहते हैं। कि वस्त्र मात्र परिग्रह को रखकर और अवशिष्ट समस्त परिग्रह को छोड़कर अपने ही घर में अथवा जिनालय में रहकर जो श्रावक गुरु के समीप मन-वचन-काय से अपनी भली प्रकार आलोचना करके पान के सिवाय शेष तीन प्रकार के आहार का त्याग करता है, उसकी वह विधि विशेष ही सल्लेखना है।[5]

2. सल्लेखना : चतुर्थ शिक्षाव्रत

श्रावक के द्वादश व्रतों में चो चार शिक्षाव्रत हैं, उनमें आचार्य कुन्दकुन्द ने चौथा शिक्षाव्रत सल्लेखना माना है।[6] आचार्य देवसेन, जिनसेन एवं वसुनन्दि आदि ने इस विषय में आचार्य कुन्दकुन्द का ही अनुसरण किया है, किन्तु तत्त्वार्थसूत्रकार ने व्रतों से पृथक् सल्लेखना की महत्ता प्रतिपादित की है।[7] स्वामी समन्तभद्र ने देशावकाशिक, सामायिक, पोषधोपवास और वैय्यावृत्य इन चार को शिक्षाव्रत माना है।[8] कतिपय परवर्ती आचार्यों ने विशेषकर पूज्यपाद, अलंकलक, विद्यानन्दि, सोमदेव,

1. अपच्छिममारणतिय संलेहणा। उपा०सू०, 1/70
   मिलाइए, उपा०टी०, पृ० 59
2. त०सू०, 7/17
3. उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रूजायां च निष्प्रतीकारे।
   धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः।। रत्न०श्रा० 6/1
4. बाह्यस्य कायस्याभ्यन्तराणां कषायाणां तत्कारणहापनयाक्रमेण सम्यग्लेखना सल्लेखना।
   चारित्र०गा० 22 पर व्याख्या।
5. वसु०श्रा० 271-273
6. सामाइयं च पढमं विदियं च तहेव पोसहं भणियं।
   वइयं अतिहिपुज्जं चउत्थ संलेहणा अन्ते।। चा०पा०गा० 25
7. त०सू०, 7/16
8. देशावकाशिकं वा सामायिकं प्रोषधोपवासो वा।
   वैयावृत्यं शिक्षाव्रतानि चत्वारि शिष्टानि।। रत्न० श्लो०-61

अमितगति आदि आचार्यों ने स्वामी समन्तभद्र का ही अनुसरण किया है। इस तरह सल्लेखना शिक्षाव्रत ही है।

3. सल्लेखना कब करनी चाहिए?

मुनि मृत्यु का समय आने पर सल्लेखना आदि द्वारा शारीरिक एवं मानसिक दृष्टि से शरीर के मोह को त्याग कर मृत्यु के तीन प्रकार[1] में से किसी एक के द्वारा सकाम मरण को प्राप्त करें।[2] मूलाराधना[3] में सल्लेखना कब करनी चाहिए इसका वर्णन करते हुए निम्न सात कारण दिए हैं :-

1. संयम को परित्याग किए बिना जिस व्याधि का उपचार करना संभव नहीं हो, ऐसी स्थिति समुत्पन्न होने पर सल्लेखना कर लेना चाहिए।
2. जो श्रम जीवन की साधना करने में वृद्धावस्था के कारण अशक्य हो, उसे सल्लेखना कर लेनी चाहिए।
3. मानव, देव और तिर्यंच समबंधी कठिन उपसर्ग उपस्थित होने पर साधक को सल्लेखना कर लेनी चाहिए।
4. चारित्रविनाश के लिए अनुकूल उपसर्ग उपस्थित होने पर साधक को सल्लेखना कर लेनी चाहिए।
5. भयंकर दुष्काल में शुद्ध भिक्षा प्राप्त करना कठिन हो गया हो, तो साधक को सल्लेखना कर लेनी चाहिए।
6. भयंकर अटवी में दिग् विमूढ़ होकर पथभ्रष्ट हो जाए तो साधक को सल्लेखना कर लेनी चाहिए।
7. देखने की शक्ति और श्रवणशक्ति आदि की शक्ति क्षीण हो जाने पर साधक को सल्लेखना कर लेनी चाहिए।

उपासकदशाङ्गसूत्र में आनन्द श्रावक के प्रसङ्ग में आता है कि आनन्द श्रावक को पूर्व रात्रि के अपरभाग में धर्मचिन्तन करते हुए यह विचार आया-यद्यपि मैं उग्र तपश्चरण के कारण कृश हो गया हूँ, नसें दिखने लगी हैं, फिर भी अभी तक उत्थान,

1. मृत्यु के तीन प्रकार हैं-भक्त प्रत्याख्यान, (चारों आहारों का त्याग), इंगिनी मरण (निश्चित सीमा में रहना), पादोपगमन (वृक्ष की शाखा के समान एक स्थान पर पड़े रहना)।
2. अह कालंमि संपत्ते, आघायाय समुस्सयं।
   सकाम मरणं मरई, तिण्हमन्नयरं मुणी।। उत्तरा०सू० 5/32
3. मूलाराधना-2/71-74

कर्म, बल, वीर्य, पुरुषार्थ, पराक्रम, श्रद्धा, धृति और संवेग विद्यमान है। अत: जब तक मुझमें उत्थानादि हैं और जब तक मेरे धर्मोपदेशक धर्माचार्य श्रमण भगवान् महावीर गंधहस्ती के समान विचर रहे हैं। मेरे लिए श्रेयस्कर होगा कि अन्तिम मरणान्तिक संलेखना अंगीकार करूं। भोजन, पानी आदि का परित्याग कर दूँ और मृत्यु की आकांक्षा न करते हुए शान्त चित से अन्तिम काल व्यतीत करूँ।[1]

अत: स्पष्ट है कि आत्म-साधना हेतु सल्लेखना उस समय ग्रहण करनी चाहिए, जब शरीर तपश्चरण के योग्य न रहा हो। योगशास्त्र में भी कहा है कि श्रावक जब यह देखे कि आवश्यक संयम प्रवृतियों के करने में शरीर अब अशक्त और असमर्थ हो गया है या मृत्यु का समय सन्निकट आ गया है तो सर्वप्रथम वह संयम को अंगीकार कर सल्लेखना करे :-

सोऽथावश्यकयोगानां भंगे मृत्योरथागमे।
कृत्वा संलेखनामादौ, प्रतिपद्य च संयमम्।।[2]

4. सल्लेखना कहाँ करनी चाहिए?

सल्लेखना करने के लिए अरिहन्त भगवन्तों के जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान अथवा निर्वाण कल्याणक के पवित्र तीर्थ स्थलों पर जाकर धारण करनी चाहिए। ऐसी भूमि नजदीक न हो तो, किसी एकान्तगृह, घर, वन या जीव जन्तु से रहित एकान्त, शान्त स्थान में सल्लेखना ग्रहण करनी चाहिए।[3]

5. सल्लेखना की विधि

सल्लेखना ग्रहण करने वाला व्यक्ति इष्ट वस्तु से राग, अनिष्ट वस्तु से द्वेष, परिजनों से ममत्व और समस्त बाह्य और आभ्यन्तर को छोड़कर शुद्ध मन से अपने परिजनों से अपने दोषों को क्षमा करावे और स्वयं भी उनके अपराधों को क्षमा करें।[4] पुन: जीवनभर के कृत, कारित और अनुमोदित निखिल पापों को निच्छल भाव से आलोचना करके मरणपर्यन्त स्थिर रहने वाले अहिंसादि महाव्रतों को धारण करें।

1. उपा०सू० 1/70
2. योग० 3/148
3. जम्म, दीक्षा-ज्ञान-मोक्ष स्थानेषु श्रीमदर्हताम्।
   तद्भावे गृहेऽरण्ये, स्थण्डिले जन्तुवर्जिते।। वही, 3/145
4. स्नेहं वैरं सङ्गं परिग्रहं चापहाय शुद्धमना:।
   स्वजनं परिजनमपि च क्षान्त्वा क्षमयेत् प्रियैर्वचनै:।। रत्न० 6/3

सल्लेखनाधारी क्रम से अन्न के आहार को घटाकर दुग्धादि रूप स्निग्धपान को बढ़ावे। पुनः क्रम से स्निग्धपान को भी घटाकर छाछ अथवा उष्ण जल आदि खर-पान को बढ़ावे। पुनः धीरे-धीरे खर-पान को घटाकर और अपनी शक्ति के अनुसार उपवास करके पंच नमस्कार मंत्र का मन में जप करे और इसके चिन्त्वन करते हुए सम्पूर्ण प्रयत्न के साथ सावधानी पूर्वक शरी का परित्याग करें।[1]

उत्तराध्ययनसूत्र में भी सल्लेखना विधि का वर्णन मिलता है। यहाँ बतलाया गया है कि उत्कृष्ट सल्लेखना के धारक साधक को पहले चार वर्षों में घृत, दुग्ध आदि विगयों का त्याग करना चाहिए, फिर पाँचवें से आठवें वर्ष तक चार वर्षों में विभिन्न प्रकार की तप की चर्याएँ करें, तीसरे चरण में अर्थात् नौ से बारह वर्ष तक के चार वर्षों में से प्रथम दो वर्षों में एकान्तर तपस्या करें और एकान्तर तप की पारणा उसे आयम्बिल से करनी चाहिए। साधक अन्त के दो वर्षों में प्रथम छः मास में कोई विकट तपस्या न करे। पुनः छः मास में घोर तपस्या करें, किन्तु जब भी पारणा करे, वह आयम्बिलतप के रूप में ही करे। बारहवें वर्ष भर कोटिभर[2] तप करें। तदनन्तर एक पक्ष या एकमास पर्यन्त आहार का त्याग रूप अनशन व्रत धारण करें।[3]

इस प्रकार सल्लेखना तप से भिन्न नहीं है।

6. सल्लेखना के भेद

(क) द्विविध प्रकार

स्थानाङ्गसूत्र में समाधिमरण के दो भेद कहे गए हैं :-

1. प्रायोपगमन मरण और 2. भक्त प्रत्याख्यान मरण[4]

(ख) त्रिविध सल्लेखना

उत्तराध्ययनसूत्र में सल्लेखना के तीन भेदों का संकेत मिलता है। इनमें से किसी एक को स्वीकार कर साधक व्रती सकाममरण को प्राप्त कर सकता है।[5]

1. वही, श्लोक-126-128
2. जिस तप का आदि और अन्त एक जैसा हो, उसे कोटि भर सहित तप कहते हैं अर्थात् आयम्बिल से तपस्या आरम्भ की, तो सदैव पारणा भी आयम्बिल से ही हो, चो वह पारणा वेलातेला आदि किसी भी तप का हो।
3. उत्तरा० 36/254
4. स्था०सू० 2/8/414
5. आचा० (शी०टी०), पृ० 286, तथा दे०उत्तरा०, 5/32

1. भक्त प्रत्याख्यान मरण

जो सेवन किया जाए, वह भक्त है और उसका त्याग प्रत्याख्यान है-भज्यते सेव्यते इति भक्तं, तस्य पइण्णा त्यागो भत्तपइण्णा।।[1] अपने साधनकाल में आहार और कषायों को कम करता हुआ साधक जब अपनी आयु का अन्त निकट जाने, तब वह आहार का पूर्णतया त्याग कर पंडित मरण स्वीकार करता है, यही भक्तप्रत्याख्यान है।

2. इंगिनी मरण

अपने अभिप्राय के अनुसार रह कर होने वाला मरण इंगिनी मरण है। यहाँ इंगिनी शब्द से आत्मा का इंगित अर्थात् संकेत अर्थ ग्रहण किया गया है।[2] नियत स्थान पर उपर्युक्त विधि से मरण को पाना इंगिनी मरण है। इसमें कारण पड़ने पर साधक अपनी सेवा स्वयं करता है, मन-वचन-काय से कृत-कारित-अनुमोदित रूप से दूसरों की सेवा लेने का भी त्याग करता है।[3]

3. पादोपगमनमरण

पाद का अर्थ है-वृक्ष। चारों प्रकार के आहार और शरीर का त्याग करके वृक्ष से कटी शाखा की तरह हलन-चलन आदि क्रियाओं का त्याग करके समाधि पूर्वक मरण पादोपगमन मरण कहलाता है। दिगम्बर ग्रंथों में पादोपमान को प्रायोपगमन कहा गया है।[4]

7. सल्लेखना की अवधि

सल्लेखना की अधिकतम सीमा बारह वर्ष, मध्यम सीमा एक वर्ष और जघन्य सीमा छः मास स्वीकार की गई है।[5]

8. सल्लेखना के अतिचार

जिस प्रकार प्रत्येक व्रत के पाँच अतिचार कहे गए है, उसी प्रकार सल्लेखना के भी पाँच अतिचार बतलाए गए हैं। उपासकदशाङ्गसूत्र में इहलोकाशसाप्रयोग,

1. भग०आ०, पृ० 65
2. स्वाभिप्रायानुसारेण स्थित्वा प्रवर्त्यमानं मरणं इंगिणीमरणं।। वही
3. वही।
4. गोम्मट० गाथा-61
5. दे० उत्तरा० 36/253

परलोकशंसाप्रयोग, जीविताशंसाप्रयोग, मरणाशंसाप्रयोग तथा कामभोगाशंसाप्रयोग–इन पाँच अतिचारों का उल्लेख किया गया है।[1] जबकि तत्त्वार्थसूत्र में कुछ भिन्न जीविताशंसा, मरणाशंसा, मित्रानुराग, सुखानुबन्ध और निदानाकरण–ये पाँच अतिचार बतलाए गए हैं।[2] इन अतिचारों का विशेष स्वरूप निम्न प्रकार है :-

1. इहलोकाशंसाप्रयोग

इस सल्लेखना व संथारे के फलस्वरूप मेरी कीर्ति, ख्याति, प्रतिष्ठा हो, लोग मुझे बड़ा त्यागी, वैरागी समझें, धन्य धन्य कहें–इस प्रकार इस लोक सम्बन्धी आकांक्षा करने से अतिचार लगता है।[3]

उपासकदशाङ्गसूत्र टीका में बतलाया गया है कि इस मनुष्य लोक में सेठ, मन्त्री, राजा आदि ऋद्धि वाले मनुष्य होने की अभिलाषा इहलोकाशंसाप्रयोग अतिचार है।[4]

2. परलोकाशंसाप्रयोग

परलोक अर्थात् देव-देवेन्द्र होने की अभिलाषा करना ही परलोकाशंसा प्रयोग अतिचार है।[5]

3. जीविताशंसाप्रयोग

संल्लेखना व संथारा काल में अपनी महिमा पूजा होती देखकर बहुत समय तक जीवित रहने की इच्छा करना जीविताशंसा प्रयोग अतिचार है।[6] यही बौद्ध दर्शन में भवतृष्णा बतलायी गयी है।

---

1. तयाणंतरं च णं अपच्छिम मारणांतिय-संलेहणा-झूसणाराहणाए पंच अइयारा जाणियत्वा न समारियव्वा, तं जहा-इहलोगासंसप्पओगे, परलोगासंसप्पओगे, जीवियासंसप्पओगे, मरणासंसप्पओगे, कामभोगासंसप्पओगे। उपा०सू०-1
2. जीवितमरणाशंसामित्रानुराग सुखानुबन्धनिदानकरणानि।। त०सू०-7/32 तथा मिलाइए सागार-8/45
3. जै०त०प्र०, पृ० 989
4. "इह लोगे" त्यादि, इहलोको-मनुष्यलोकः, तस्मिन्नाशंसा अभिलाषः तस्याः प्रयोग इहलोकाशंसाप्रयोगः श्रेष्ठीस्यां जन्मान्तरेऽमात्यो वा इत्येवरूपा प्रार्थना। उपा०टी०, पृ० 59
5. परलोकाशंसाप्रयोगो "देवाऽहं स्याम्" इत्यादि। वही
6. वही।

4. मरणाशंसाप्रयोग

अपनी पूजा प्रतिष्ठा न होती देख शीघ्र ही करने की इच्छा रखना मरणाशंसा प्रयोग है।[1] क्षुधा, तृषा आदि की पीड़ा से व्याकुल होकर जल्दी मर जाने की इच्छा करना मरणाशंसाप्रयोग है।[2] यही बौद्धों की विभवतृष्णा है।

5. कामभोगशंसाप्रयोग

अनशन के प्रभाव से आगामी भव में दिव्य मनुष्य सम्बन्धी कामभोग की अभिलाषा रखना कामभोगशंसाप्रयोग अतिचार है।[3] बौद्धदर्शन में कामतृष्णा का भी ऐसा ही स्वरूप बतलाया गया है।

आचरांगसूत्र में भी कहा गया है कि साधक जन्म व मरण दोनों विकल्पों से मुक्त होकर अनासक्त भाव से जीवन यापन करें क्योंकि अनासक्तयोग से ही सिद्धत्वयोग की प्राप्ति होती है।[4] अनासक्त योग को श्रीमद्भगवद्गीता मे और अधिक स्पष्ट किया गया है। यही निष्काम भाव भी बतलाया गया है।

इस प्रकार श्रमण साधक को अथवा अपरिग्रही श्रावक दोनों के लिए मणान्त समय में संथारा यो संल्लेखना अथवा समाधिमरण विधि का ग्रहण करना चाहिए। कुशल भावपूर्वक मरण करने से भव का नाश होता है, और उत्तमगति का लाभ होता है जो मानव का अभीष्ट लक्ष्य है।

उपासकदशाङ्गसूत्र में आनन्द श्रावक एवं अन्य सभी श्रावकों ने विचार किया कि जब तक उनमें उत्थानादि विद्यमान है, वे अन्तिम व्रत मारणान्तिक संलेखना अंगीकार करेंगे। यह विचार कर उन्होंने संलेखना अंगीकृत की।

---

1. "मरणाशंसाप्रयोगः" उक्तस्वरूपपूजाद्यभावे भवयत्यसौ यदि "शीघ्रं म्रियेऽहम्" इति स्वरूप इति।। वही।
2. जै०त०प्र०, पृ० 989
3. "कामभोगाशंसा प्रयोगो" "यदि मे मानुष्यकाः कामभोगा दिव्या वा समपद्यन्ते तदा साधु" इति विकल्परूपः। उपा०सू०टी०, पृ० 56
4. आ०सू० 1/8/8/16, पृ०, 261 (व्यावर)